अद्वैत-वेदांत में सत्य-अनुभव: व्यष्टि का अतिक्रमण और समष्टि-चेतना का साक्षात्कार

डॉ. नवीन दीक्षित[1], द्रोण कुमार[2]

[1]विभागाध्यक्ष – भारतीय दर्शन विभाग

साँची बौद्ध-भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय, साँची

[2]शोधार्थी - भारतीय दर्शन विभाग

साँची बौद्ध-भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय, साँची

Email – dronkumarsahu2600@gmail.com

DOI : https://doi.org/10.5281/zenodo.18667442

सारांश :-

अद्वैत वेदांत का केंद्रीय प्रतिपाद्य यह है कि सत्य का अनुभव किसी पृथक, सीमित और व्यक्तिकेंद्रित सत्ता (व्यष्टि) का अनुभव नहीं है, बल्कि वह अनुभव तभी घटित होता है जब व्यष्टि-बोध का अतिक्रमण होकर समष्टि-चेतना का साक्षात्कार होता है। यह आलेख इस मूल मान्यता की दार्शनिक विवेचना करता है कि जब भी सत्य का प्रामाणिक अनुभव हुआ है, वह व्यष्टि का नहीं, समष्टि का ही अनुभव रहा है। अद्वैत वेदांत में आत्मा और ब्रह्म का अभेद, 'अहं' का अध्यासमूलक स्वरूप, तथा अनुभव की अद्वैत संरचना इस तथ्य की पुष्टि करती है कि अनुभूति का विषय कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं, बल्कि सर्वव्यापक ब्रह्म-चेतना है। समुद्र-लहर, घट-जल, जीव-ब्रह्म के उदाहरणों के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि व्यष्टि केवल व्यवहारिक स्तर की संकल्पना है, जबकि सत्य के स्तर पर केवल समष्टि का ही अस्तित्व है। साथ ही, संत परंपरा—विशेषतः कबीर और तुलसी—की वाणी यह दर्शाती है कि अद्वैत का यह दार्शनिक सत्य लोकानुभव और काव्यात्मक अभिव्यक्ति में भी समान रूप से प्रकट हुआ है। इस प्रकार यह आलेख यह प्रतिपादित करता है कि अद्वैत वेदांत में सत्य-अनुभव का अर्थ 'मैं' का अनुभव नहीं, बल्कि 'मैं' के लोप में ब्रह्म का साक्षात्कार है।

इसके अतिरिक्त, यह आलेख यह भी स्पष्ट करता है कि अद्वैत वेदांत में सत्य-अनुभव को किसी असाधारण आध्यात्मिक घटना या मानसिक अवस्था के रूप में नहीं, बल्कि अज्ञान-निवृत्ति से उत्पन्न बोधात्मक परिवर्तन के रूप में समझा जाना चाहिए। इस दृष्टि से सत्य-अनुभव कोई नयी उपलब्धि नहीं, बल्कि सदा-सिद्ध ब्रह्म-चेतना के आवरण-निवारण का परिणाम है। व्यष्टि-बोध का अतिक्रमण ही इस अनुभूति का केंद्रीय आधार है, जिसके फलस्वरूप अनुभव का व्यक्तिकेंद्रित ढाँचा स्वतः विलीन हो जाता है और

समष्टि-चेतना का साक्षात्कार संभव होता है। इस प्रकार यह अध्ययन अद्वैत वेदांत में सत्य, अनुभव और मोक्ष के अंतःसंबंध को एक समग्र दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में स्थापित करता है।

मूल शब्दः-

अद्वैत वेदांत, व्यष्टि, समष्टि, महावाक्य, संत परंपरा

मुख्य आलेख :-

अद्वैत वेदांत का दर्शन मूलतः अनुभव का दर्शन है, परन्तु यह अनुभव सामान्य अर्थों में व्यक्ति-केंद्रित अनुभव नहीं है। साधारणतः 'अनुभव' शब्द सुनते ही यह मान लिया जाता है कि कोई व्यक्ति अनुभव करता है, कोई 'मैं' है जो देखने-जानने-भोगने का कर्ता है। किंतु अद्वैत वेदांत इसी मान्यता को मूल भ्रांति के रूप में उद्घाटित करता है। शंकराचार्य के अनुसार यह 'मैं' कोई स्वयंसिद्ध, अंतिम या वास्तविक सत्ता नहीं है, बल्कि अध्यास से उत्पन्न एक व्यवहारिक बोध है। इसलिए जब अद्वैत वेदांत सत्य-अनुभव की बात करता है, तो वह किसी व्यष्टि-सत्ता के अनुभव की बात नहीं करता, बल्कि उस स्थिति की ओर संकेत करता है जहाँ व्यष्टि-बोध स्वयं लुप्त हो जाता है।

यही कारण है कि उपनिषद् बार-बार यह उद्घोष करते हैं कि आत्मा और ब्रह्म में कोई द्वैत नहीं है—"एकमेव अद्वितीयम् ब्रह्म" यदि द्वितीय नहीं है, तो अनुभवकर्ता और अनुभूत के बीच का भेद भी अंतिम नहीं हो सकता। इस संदर्भ में यह प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाता है कि जब सत्य का अनुभव घटित होता है, तब उसका विषय और उसका आधार क्या होता है। यह आलेख इसी प्रश्न को केंद्र में रखकर यह विवेचना करता है कि सत्य-अनुभव का स्वरूप मूलतः समष्टिगत है, न कि व्यष्टिगत।

अद्वैत वेदांत में समुद्र और लहर का उदाहरण अत्यंत प्रसिद्ध है। लहर देखने में अलग-अलग प्रतीत होती है, उसका एक नाम, एक रूप और एक सीमित अस्तित्व दिखाई देता है, परन्तु उसका वास्तविक तत्त्व समुद्र से भिन्न नहीं है। लहर का अनुभव यदि केवल लहर के रूप में किया जाए तो वह व्यष्टि-बोध का अनुभव है, परन्तु जब यह बोध होता है कि लहर वास्तव में समुद्र ही है, तब लहर का पृथक अस्तित्व समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार, जब सत्य का अनुभव होता है, तब 'मैं अनुभव कर रहा हूँ'—यह भाव नहीं रहता; बल्कि केवल सत्य ही सत्य के रूप में प्रकाशित होता है।

यहाँ जीव-जगत और ब्रह्म के संबंध पर विचार करना आवश्यक है। अद्वैत वेदांत के अनुसार जीव कोई स्वतंत्र, आत्मसंपन्न सत्ता नहीं है। जीव ब्रह्म ही है, किंतु अविद्या और अध्यास के कारण स्वयं को सीमित, कर्ता-भोक्ता मान लेता है। यही अविद्या व्यष्टि-बोध का आधार है। जब तक यह बोध बना रहता है, तब तक अनुभव भी व्यक्तिकेंद्रित प्रतीत होता है। परन्तु जैसे ही अविद्या का नाश होता है, वैसे ही यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुभव करने वाला कोई अलग 'जीव' था ही नहीं—अनुभव तो सदा से ब्रह्म-चेतना का ही था।

"आत्मा सत्यं तदन्यत् सर्वं मिथ्येति"—यह वाक्य अद्वैत की संपूर्ण अनुभूति-मीमांसा को संक्षेप में व्यक्त करता है। आत्मा अर्थात् ब्रह्म ही सत्य है; उससे भिन्न जो कुछ भी प्रतीत होता है, वह मिथ्या है। मिथ्या का अर्थ यहाँ असत्य नहीं, बल्कि वह सत्ता जो अपने आप में स्वतंत्र नहीं है। व्यष्टि-बोध इसी मिथ्यात्व का उदाहरण है। वह अनुभव के स्तर पर दिखाई देता है, परन्तु सत्य के स्तर पर उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता।

उपनिषदों के महावाक्य—"अयम् आत्मा ब्रह्म", "तत्त्वमसि", "अहं ब्रह्मास्मि", "प्रज्ञानं ब्रह्म"—इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं कि आत्मा और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। यदि आत्मा ब्रह्म ही है, तो अनुभवकर्ता और अनुभूत का द्वैत कैसे टिक सकता है? यहाँ अनुभव का अर्थ किसी सीमित सत्ता का अनुभव नहीं, बल्कि ब्रह्म द्वारा ब्रह्म का ही साक्षात्कार है। यह साक्षात्कार किसी क्रिया के रूप में नहीं घटित होता, बल्कि अज्ञान के निवारण के रूप में प्रकट होता है।

इस दार्शनिक दृष्टि को संत परंपरा ने अपनी सहज, लोकबोधगम्य भाषा में अभिव्यक्त किया है। तुलसीदास का कथन—"सीता राम मय सब जग जानी"—यह दर्शाता है कि जब दृष्टि अद्वैत हो जाती है, तब संसार अलग-अलग वस्तुओं और व्यक्तियों का समूह नहीं रह जाता, बल्कि एक ही चेतना का विस्तार प्रतीत होता है। यहाँ देखने वाला कोई पृथक व्यष्टि नहीं रह जाता; देखने और देखे जाने का द्वैत स्वतः विलीन हो जाता है।

संत कबीर का प्रसिद्ध कथन—"जब मैं था तब हरि नाही, अब हरि है मैं नाही"—अद्वैत वेदांत की अनुभूति को अत्यंत सटीक रूप में व्यक्त करता है। 'मैं' का रहना और 'हरि' का प्रकट होना एक साथ संभव नहीं है। जब तक व्यष्टि-अहं उपस्थित है, तब तक सत्य का अनुभव नहीं होता; और जब सत्य का अनुभव होता है, तब व्यष्टि-अहं स्वयं विलीन हो जाता है। यह विलय कोई विनाश नहीं, बल्कि वास्तविकता का प्रकटीकरण है।

घट-जल का उदाहरण—"जल में कुंभ, कुंभ में जल"—अद्वैत के समष्टि-दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है। घट के भीतर जल सीमित प्रतीत होता है, बाहर जल असीम दिखाई देता है, परन्तु घट फूटते ही यह भेद समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार देह-मन रूपी घट में चेतना सीमित 'मैं' के रूप में प्रतीत होती है, परन्तु अज्ञान रूपी घट के टूटते ही वही चेतना समष्टि-ब्रह्म के रूप में प्रकाशित होती है। यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुभव किसी व्यष्टि का नहीं था, बल्कि सदा से उसी जल—उसी ब्रह्म—का था।

कबीर का एक और पद—"माटी एक अनगिन नाचे"—इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि रूपों की विविधता के पीछे तत्त्व की एकता है। जब तत्त्व एक ही है, तो मिलन-बिछोह, कर्ता-भोक्ता, मैं-तू—ये सभी भेद केवल व्यवहारिक स्तर पर हैं। सत्य के स्तर पर न कोई मिलाता है, न कोई बिछोड़ता है; न कोई

अनुभव करता है, न कोई अनुभव का विषय बनता है। वहाँ केवल समष्टि-चेतना का निःशब्द, निःसीम प्रकाश है।

इस प्रकार यह आलेख यह प्रतिपादित करता है कि अद्वैत वेदांत में सत्य-अनुभव का अर्थ किसी विशेष व्यक्ति का विशिष्ट अनुभव नहीं है। सत्य-अनुभव वह स्थिति है जहाँ अनुभव करने वाला व्यक्ति स्वयं ही लुप्त हो जाता है। व्यष्टि-बोध का अतिक्रमण ही समष्टि-चेतना का साक्षात्कार है। यही अद्वैत वेदांत का मर्म है, यही उपनिषदों का संदेश है, और यही संत परंपरा का अनुभूत सत्य है।

अद्वैत वेदांत में सत्य-अनुभव की इस समष्टिगत संरचना को केवल आध्यात्मिक या भावनात्मक अनुभव के रूप में समझ लेना पर्याप्त नहीं है। शंकराचार्य इस अनुभव को दार्शनिक रूप से अत्यंत सुदृढ़ अनुभूति-मीमांसा और ज्ञान-मीमांसा के आधार पर स्थापित करते हैं। अद्वैत के अनुसार अनुभव तभी प्रमाणिक कहा जा सकता है, जब वह अविद्या-जनित भ्रांतियों का निवारण करे। इस दृष्टि से देखा जाए तो व्यष्टि-केंद्रित अनुभव स्वयं में अंतिम सत्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह कर्ता-भोक्ता, विषय-वस्तु और अनुभव-क्रिया—इन तीनों भेदों पर आधारित होता है। ये भेद स्वयं अध्यास के उत्पाद हैं।

शंकराचार्य के अनुसार अध्यास का मूल स्वरूप ही यह है कि आत्मा में अनात्मा का और अनात्मा में आत्मा का आरोप कर दिया जाता है। यही कारण है कि चेतना, जो वस्तुतः समष्टि और असीम है, देह-मन रूपी सीमित उपाधियों के कारण व्यष्टि के रूप में अनुभव होती प्रतीत होती है। जब तक यह अध्यास बना रहता है, तब तक अनुभव भी सीमित, खंडित और व्यक्तिकेंद्रित ही रहेगा। अतः अद्वैत वेदांत में सत्य-अनुभव का अर्थ किसी नए अनुभव की प्राप्ति नहीं, बल्कि उस भ्रांति की निवृत्ति है, जिसके कारण अनुभव व्यष्टिगत प्रतीत हो रहा था।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि सत्य-अनुभव में अनुभवकर्ता ही लुप्त हो जाता है, तो फिर उस स्थिति को 'अनुभव' कहना कितना उचित है? अद्वैत वेदांत इस प्रश्न का उत्तर देते हुए अनुभव की पारंपरिक परिभाषा को ही चुनौती देता है। सामान्यतः अनुभव का अर्थ होता है—किसी विषय का किसी कर्ता द्वारा अनुभव किया जाना। किंतु अद्वैत के अनुसार सत्य की स्थिति में न कोई पृथक कर्ता शेष रहता है और न ही कोई पृथक विषय। वहाँ केवल चेतना का स्वप्रकाशन होता है। इसीलिए शंकराचार्य ब्रह्म को स्वयंप्रकाश कहते हैं। ब्रह्म को जानने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वह स्वयं ही ज्ञान और ज्ञेय—दोनों का आधार है।

इसी संदर्भ में यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि अद्वैत वेदांत का समष्टि-चेतना का सिद्धांत किसी प्रकार का सामूहिक अनुभव नहीं है। समष्टि का अर्थ यहाँ कई व्यक्तियों का जोड़ नहीं, बल्कि उस चेतना का बोध है, जो किसी भी प्रकार की सीमाओं से परे है। यदि समष्टि को केवल 'सभी व्यक्तियों का योग'

मान लिया जाए, तो यह भी एक सूक्ष्म द्वैत ही होगा। अद्वैत वेदांत में समष्टि का तात्पर्य उस अखंड चेतना से है, जिसमें व्यष्टि का विचार स्वयं विलीन हो जाता है।

अद्वैत वेदांत की इस अनुभूति-मीमांसा को मोक्ष-सिद्धि के संदर्भ में देखने पर यह और अधिक स्पष्ट हो जाती है। मोक्ष को शंकराचार्य किसी नई अवस्था, किसी लोक-विशेष की प्राप्ति या किसी अनुभव-विशेष की सिद्धि नहीं मानते। मोक्ष का अर्थ है—बन्धन का अभाव। और यह बन्धन किसका है?—व्यष्टि-बोध का, कर्तृत्व-भोक्तृत्व का, और पृथक सत्ता होने के भ्रम का। जब यह भ्रम टूटता है, तब जो शेष रहता है वही समष्टि-चेतना है। इस दृष्टि से मोक्ष और सत्य-अनुभव अलग-अलग नहीं हैं; सत्य-अनुभव ही मोक्ष है।

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि अद्वैत वेदांत में समष्टि-चेतना का साक्षात्कार किसी विशेष साधना-पद्धति का प्रत्यक्ष परिणाम नहीं है। साधनाएँ—श्रवण, मनन और निदिध्यासन—अज्ञान को हटाने के साधन हैं, न कि ब्रह्म को उत्पन्न करने के। ब्रह्म न तो उत्पन्न होता है और न ही प्राप्त किया जाता है; वह तो सदा से उपस्थित है। व्यष्टि-बोध ही वह आवरण है, जो इस सदा-सिद्ध सत्य को ढक देता है। जब यह आवरण हटता है, तब समष्टि-चेतना स्वतः प्रकाशित हो जाती है।

इस संदर्भ में यह कहना अधिक समीचीन होगा कि अद्वैत वेदांत में सत्य-अनुभव कोई 'घटना' नहीं, बल्कि 'स्थिति-बोध का परिवर्तन' है। पहले जहाँ अनुभव का केंद्र 'मैं' था, वहीं अब वह केंद्र स्वयं ही निरस्त हो जाता है। यह निरस्तीकरण किसी नकारात्मक शून्यता की ओर नहीं ले जाता, बल्कि चेतना की पूर्णता की ओर संकेत करता है। यही कारण है कि अद्वैत वेदांत में ब्रह्म को पूर्णम् कहा गया है—"पूर्णमदः पूर्णमिदम्।"

यदि इस दृष्टि को आधुनिक दार्शनिक विमर्श से जोड़ा जाए, तो यह कहा जा सकता है कि अद्वैत वेदांत का सत्य-अनुभव आधुनिक आत्मवादी दर्शन की सीमाओं को पार कर जाता है। यहाँ चेतना न तो केवल व्यक्तिगत अनुभूति है और न ही किसी मानसिक अवस्था का नाम। चेतना वह आधार है, जिसमें व्यक्ति, अनुभव और संसार—तीनों एक साथ प्रकट होते हैं। इसीलिए अद्वैत वेदांत में व्यष्टि और समष्टि का भेद अनुभव की संरचना से जुड़ा हुआ है, न कि सत्ता की दो अलग-अलग श्रेणियों से।

अंततः यह स्पष्ट होता है कि अद्वैत वेदांत में सत्य-अनुभव का प्रश्न केवल आध्यात्मिक मुक्ति का प्रश्न नहीं है, बल्कि यह अनुभव, चेतना और अस्तित्व की दार्शनिक समझ से गहराई से जुड़ा हुआ है। व्यष्टि का अतिक्रमण कोई मानसिक प्रक्रिया नहीं, बल्कि ज्ञान का परिणाम है—ऐसा ज्ञान, जो यह उद्घाटित करता है कि जो कुछ भी 'मैं' के रूप में अनुभव होता था, वह वास्तव में समष्टि-चेतना का ही एक सीमित और व्यवहारिक रूप था।

अद्वैत वेदांत की इस समष्टिगत अनुभूति को यदि व्यवहार और जीवन-दृष्टि के स्तर पर देखा जाए, तो यह स्पष्ट होता है कि व्यष्टि-बोध का अतिक्रमण केवल एक दार्शनिक निष्कर्ष नहीं, बल्कि जीवन के प्रति दृष्टि का आमूल परिवर्तन है। जब तक चेतना स्वयं को एक पृथक कर्ता और भोक्ता के रूप में अनुभव करती है, तब तक भय, आकांक्षा, संघर्ष और असंतोष अनुभव के अनिवार्य अंग बने रहते हैं। परन्तु जैसे ही यह बोध होता है कि अनुभव का आधार कोई सीमित 'मैं' नहीं, बल्कि समष्टि-चेतना है, वैसे ही जीवन को देखने का संपूर्ण ढाँचा परिवर्तित हो जाता है।

इस संदर्भ में अद्वैत वेदांत यह भी स्पष्ट करता है कि समष्टि-चेतना का साक्षात्कार संसार-निषेध या कर्म-त्याग का आग्रह नहीं करता। शंकराचार्य के अनुसार ज्ञानोत्तर अवस्था में भी व्यवहार चलता है, परन्तु उसका आधार बदल जाता है। पहले जहाँ कर्म 'मैं करता हूँ'—इस व्यष्टि-बोध से प्रेरित था, वहीं अब वही कर्म चेतना के सहज प्रवाह के रूप में घटित होता है। यहाँ कर्तृत्व का अभिमान नहीं रहता, इसलिए कर्म बन्धन का कारण भी नहीं बनता। इस प्रकार समष्टि-चेतना का बोध कर्म और मोक्ष के बीच किसी विरोध को जन्म नहीं देता, बल्कि दोनों को एक उच्चतर दृष्टि में समन्वित कर देता है।

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि अद्वैत वेदांत में व्यष्टि का अतिक्रमण किसी सामाजिक या नैतिक उत्तरदायित्व से पलायन नहीं है। इसके विपरीत, जब चेतना स्वयं को समष्टि के रूप में अनुभव करती है, तब 'दूसरे' के प्रति संवेदनशीलता स्वतः विकसित होती है। करुणा, सह-अस्तित्व और अभेद-दृष्टि किसी नैतिक आदेश के परिणामस्वरूप नहीं, बल्कि इस समष्टिगत बोध के स्वाभाविक फलस्वरूप प्रकट होती हैं। इस अर्थ में अद्वैत का सत्य-अनुभव केवल दार्शनिक अनुभूति नहीं, बल्कि जीवन को अधिक समग्र और मानवीय बनाने वाली दृष्टि भी है।

अतः यह कहा जा सकता है कि अद्वैत वेदांत में सत्य-अनुभव का प्रश्न केवल आत्मा और ब्रह्म के तात्त्विक अभेद तक सीमित नहीं है, बल्कि वह अनुभव, व्यवहार और जीवन-दृष्टि—तीनों स्तरों पर व्याप्त है। व्यष्टि-बोध का अतिक्रमण होते ही अनुभव की संरचना, कर्म की दिशा और संसार के प्रति दृष्टिकोण—सब एक साथ रूपांतरित हो जाते हैं। यही कारण है कि अद्वैत वेदांत का सत्य-अनुभव किसी एक क्षणिक अनुभूति का नाम नहीं, बल्कि चेतना के स्थायी और अखंड बोध का द्योतक है, जो समष्टि-चेतना के साक्षात्कार में पूर्णता प्राप्त करता है।

निष्कर्ष:-

इस आलेख की समग्र विवेचना से यह स्पष्ट होता है कि अद्वैत वेदांत में सत्य-अनुभव को किसी व्यष्टि-केंद्रित अनुभूति के रूप में नहीं समझा जा सकता। सत्य-अनुभव का तात्पर्य किसी सीमित 'मैं' द्वारा किसी परम तत्त्व का अनुभव करना नहीं है, बल्कि उस भ्रांत 'मैं'-बोध का अतिक्रमण है, जिसके कारण अनुभव

व्यष्टिगत प्रतीत होता है। अद्वैत की दृष्टि में अनुभव का आधार कोई पृथक कर्ता नहीं, बल्कि वही सर्वव्यापक ब्रह्म-चेतना है, जो अविद्या के कारण स्वयं को सीमित रूप में अनुभव करती प्रतीत होती है। यह आलेख यह स्थापित करता है कि व्यष्टि और समष्टि का भेद कोई तत्वगत भेद नहीं, बल्कि ज्ञानगत भेद है। व्यष्टि-बोध अविद्या और अध्यास पर आधारित है, जबकि समष्टि-चेतना आत्मा-ब्रह्म की अभिन्नता के साक्षात्कार से प्रकट होती है। समुद्र-लहर, घट-जल तथा जीव-ब्रह्म के उदाहरण इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं कि जो कुछ व्यष्टि के रूप में अनुभव होता है, वह वास्तव में समष्टि का ही सीमित और व्यवहारिक प्राकट्य है। सत्य के स्तर पर न तो कोई पृथक जीव है और न ही कोई स्वतंत्र अनुभवकर्ता—वहाँ केवल ब्रह्म-चेतना का निःसीम प्रकाश है।

उपनिषदों के महावाक्य—"अयम् आत्मा ब्रह्म", "तत्त्वमसि", "अहं ब्रह्मास्मि", "प्रज्ञानं ब्रह्म"—इस निष्कर्ष की दार्शनिक पुष्टि करते हैं कि आत्मा और ब्रह्म का अभेद ही सत्य-अनुभव का मूल है। यह अनुभव किसी नयी उपलब्धि के रूप में नहीं, बल्कि अज्ञान के निवारण के रूप में घटित होता है। अतः अद्वैत वेदांत में सत्य-अनुभव को 'अनुभव की घटना' से अधिक 'भ्रांति-निवृत्ति' के रूप में समझना अधिक समीचीन है। संत परंपरा की वाणी—विशेषतः कबीर और तुलसी—इस अद्वैत अनुभूति को लोकानुभव की भाषा में अभिव्यक्त करती है। "जब मैं था तब हरि नाही" जैसे कथन यह स्पष्ट कर देते हैं कि सत्य का प्रकट होना और व्यष्टि-अहं का रहना एक साथ संभव नहीं है। यहाँ 'मैं' का लोप किसी नकारात्मक शून्यता की ओर नहीं, बल्कि समष्टि-चेतना के पूर्ण प्रकाश की ओर संकेत करता है। इस प्रकार संत परंपरा और अद्वैत वेदांत—दोनों एक ही सत्य को भिन्न अभिव्यक्तियों में उद्घाटित करते हैं।

अंततः यह कहा जा सकता है कि अद्वैत वेदांत में सत्य-अनुभव का मर्म व्यष्टि के निषेध में नहीं, बल्कि उसके अतिक्रमण में निहित है। व्यष्टि का अतिक्रमण ही समष्टि-चेतना का साक्षात्कार है। यही अद्वैत वेदांत का केंद्रीय निष्कर्ष है, यही उपनिषदों का संदेश है और यही संत परंपरा का अनुभूत सत्य।

इसके साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि अद्वैत वेदांत में सत्य-अनुभव की अवधारणा किसी प्रकार के रहस्यवाद या केवल अनुभूतिजन्य व्यक्तिवाद तक सीमित नहीं है, बल्कि वह एक सुसंगत दार्शनिक संरचना पर आधारित है, जिसमें अनुभव, ज्ञान और अस्तित्व—तीनों का समन्वय निहित है। व्यष्टि-बोध का अतिक्रमण यहाँ किसी नैतिक या मनोवैज्ञानिक निषेध के रूप में नहीं, बल्कि ज्ञानोत्पन्न बोध-परिवर्तन के रूप में घटित होता है। इस बोध-परिवर्तन के फलस्वरूप अनुभव का केंद्र स्वयं ही विलीन हो जाता है और चेतना अपनी समष्टिगत, अखंड और स्वप्रकाश स्वरूप में प्रकाशित होती है।

इस दृष्टि से देखा जाए तो अद्वैत वेदांत का सत्य-अनुभव न तो केवल आध्यात्मिक साधना की परिणति है और न ही किसी दार्शनिक अमूर्तन का परिणाम; वह जीवन, जगत और चेतना के प्रति दृष्टि-परिवर्तन है। यही कारण है कि यह अनुभूति न केवल मोक्ष-सिद्धि की कुंजी है, बल्कि व्यवहारिक जीवन में भी करुणा,

अभेद-बोध और समग्रता की दृष्टि को जन्म देती है। जब अनुभव का आधार समष्टि-चेतना बन जाता है, तब व्यक्ति और संसार के बीच का द्वैत अपने आप शिथिल हो जाता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि अद्वैत वेदांत में सत्य-अनुभव का मर्म किसी 'मैं' के उन्नयन में नहीं, बल्कि उस 'मैं'-बोध के अतिक्रमण में निहित है। यही अतिक्रमण समष्टि-चेतना का साक्षात्कार है और यही साक्षात्कार अद्वैत वेदांत के दर्शन, उपनिषदों की शिक्षाओं तथा संत परंपरा की अनुभूति—तीनों का साझा निष्कर्ष है। इस प्रकार यह अध्ययन न केवल अद्वैत वेदांत की मूल मान्यता को पुष्ट करता है, बल्कि समकालीन दार्शनिक विमर्श में भी उसके अनुभवात्मक और अस्तित्वगत महत्व को रेखांकित करता है।

संदर्भ ग्रंथ:-

1. लाल, बसंत कुमार. समकालीन भारतीय दर्शन. दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास,2016
2. राधाकृष्णन, एस. भारतीय दर्शन. नयी दिल्ली: राजपाल पब्लिशिंग,2010
3. दत्ता एवं चटर्जी. भारतीय दर्शन एक परिचय. वाराणसी: मोतीलाल बनारसीदास,2023
4. दास, तुलसी. श्रीरामचरितमानस,गोरखपुर : गीताप्रेस 2021
5. कबीर, बीजक. टीकाकार - अभिलाष दास. इलाहाबाद : कबीर पारख संस्थान, 2018
6. शर्मा, चंद्रधर. भारतीय दर्शन आलोचना और अनुशीलन. वाराणसी: मोतीलाल बनारसीदास,2023
7. शंकराचार्य, आद्य. विवेक चूड़ामणि. दिल्ली : मनोज पब्लिकैशन, 2010
8. हिरियन्ना,एम ..भारतीय दर्शन की रूपरेखा .दिल्ली : राजकमल प्रकाशन ,1995